E-ISSN: 2664-603X
P-ISSN: 2664-6021
Impact Factor (RJIF): 5.92
IJPSG 2026; 8(1): 49-54
www.journalofpoliticalscience.com
Received: 01-10-2025
Accepted: 05-11-2025

Tinku Kumar
Assistant Professor, R.P.S. College, Chakeyaj, Mahnar, Vaishali, Bihar, India

Dr. Bharti Sehta
Senior Assistant Professor, University Department of Political Science Babasaheb Bhimrao Ambedkar Bihar University, Muzaffarpur, Bihar, India

Corresponding Author:
Tinku Kumar
Assistant Professor, R.P.S. College, Chakeyaj, Mahnar, Vaishali, Bihar, India

भारत में पर्यावरण आंदोलन: इतिहास, प्रतिमान और पर्यावरणीय न्याय का राजनीतिक अर्थशास्त्र

Tinku Kumar and Bharti Sehta

DOI: https://doi.org/10.33545/26646021.2026.v8.i1a.832

सारांश

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औद्योगिकीकरण, कृषि–व्यावसायीकरण, नगरीकरण, विकास–परियोजनाओं तथा वैश्विक बाज़ारवाद के दबाव ने भारत में अभूतपूर्व पर्यावरणीय संकट उत्पन्न किया। वनों की कटाई, खनन विस्तार, भूमि अधिग्रहण, जल प्रदूषण एवं जलवायु परिवर्तन ने ग्रामीण, आदिवासी तथा पारिस्थितिकी–निर्भर समुदायों को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। इस परिस्थिति ने भारत में अनेक पर्यावरण आंदोलनों को जन्म दिया, जिनका उद्देश्य केवल पर्यावरण संरक्षण नहीं बल्कि सामाजिक न्याय, आदिवासी अधिकार, आजीविका सुरक्षा तथा लोकतांत्रिक भागीदारी की रक्षा भी रहा। चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, साइलेंट वैली आंदोलन, न्यामगिरी पहाड़ आंदोलन तथा हसदेव अरण्य आंदोलन ने राज्य–केन्द्रित विकास मॉडल को चुनौती देते हुए पर्यावरणीय न्याय, सतत विकास तथा समुदाय–आधारित संसाधन प्रबंधन की वैकल्पिक अवधारणा को स्थापित किया। इस शोध–पत्र में भारत के पर्यावरण आंदोलनों के ऐतिहासिक विकास, प्रमुख प्रवृत्तियों, नेतृत्व–रणनीति, सामाजिक–आर्थिक प्रभाव एवं नीतिगत परिणामों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

कुटशब्द: पर्यावरण आंदोलन, पर्यावरण न्याय, सतत विकास, संसाधन प्रबंधन, आदिवासी अधिकार, पर्यावरणीय लोकतंत्र

प्रस्तावना

पर्यावरण मानव सभ्यता की संरचना का मूल आधार है क्योंकि प्राकृतिक संसाधनों के बिना आर्थिक उत्पादन, सामाजिक संबंध, सांस्कृतिक जीवन और राजनीतिक संरचनाएँ विकसित नहीं हो सकतीं।[1] पृथ्वी की पारिस्थितिक प्रणालियाँ केवल भौतिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करतीं, बल्कि सामाजिक–पारिस्थितिक सहअस्तित्व (Socio–ecological coexistence) का आधार भी निर्मित करती हैं, जिसमें मानव और प्रकृति को परस्पर निर्भर इकाइयों के रूप में देखा जाता है।[2] परंतु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विकसित वैश्विक औद्योगिक पूँजीवाद, निर्यात–मुखी विकास मॉडल तथा तकनीकी विस्तार ने पर्यावरण और समाज के संतुलन को गंभीर रूप से बाधित किया। प्राकृतिक संसाधनों के व्यावसायीकरण और निजीकरण ने ग्रामीण तथा आदिवासी समुदायों को उनके परंपरागत संसाधनों से विस्थापित किया और पर्यावरणीय संकट की गहरी सामाजिक अभिव्यक्ति स्थापित की।[3]

भारत में 1960 के दशक तक "विकास" को राष्ट्रीय प्रगति का पर्याय माना गया, परंतु बड़े बाँधों, खनन परियोजनाओं, वन दोहन और नदी अवरोधों से उत्पन्न विस्थापन, आजीविका संकट और सांस्कृतिक क्षरण ने विकास मॉडल पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया।[4] इसी पृष्ठभूमि में उभरते जन–आंदोलनों ने सिद्ध किया कि पर्यावरणीय संकट केवल "प्रकृति के विनाश" की समस्या नहीं है, बल्कि अधिकारों, समानता और न्याय का मुद्दा भी है। चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन और न्यामगिरी आंदोलन जैसे संघर्षों ने पर्यावरणीय प्रश्न को सामाजिक न्याय, आदिवासी स्वायत्तता तथा सांस्कृतिक अधिकार के विमर्श से जोड़ा।[5] इस तरह पर्यावरणीय आंदोलन संरक्षणवादी प्रकृति से आगे बढ़कर लोकतांत्रिक प्रतिरोध की प्रक्रिया बन गए।

इन आंदोलनों को सैद्धांतिक रूप से पर्यावरण न्याय प्रतिमान (Environmental Justice Framework) के माध्यम से समझा जा सकता है, जो यह तर्क प्रस्तुत करता है कि पर्यावरणीय क्षति का बोझ समान नहीं होता, बल्कि सबसे अधिक प्रभाव उन समूहों पर पड़ता है जो पहले से सामाजिक–राजनीतिक रूप से कमजोर हैं — जैसे आदिवासी, दलित, ग्रामीण महिलाएँ और श्रमिक वर्ग।[6] दूसरी ओर राजनीतिक पारिस्थितिकी (Political Ecology) का दृष्टिकोण बताता है कि पर्यावरणीय संघर्ष

[1] Gadgil, M. & Guha, R., Ecology and Equity, Penguin Books, 1995.
[2] Capra, F., The Web of Life, Anchor Books, 1996.
[3] Sachs, W., The Development Dictionary, Zed Books, 1992.
[4] Roy, A., "The Greater Common Good", Outlook Magazine, 1999.
[5] Baviskar, A., In the Belly of the River, Oxford University Press, 1995.
[6] Bullard, R., Dumping in Dixie: Race, Class, and Environmental Quality, Westview Press, 1990.

वस्तुतः प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण और निर्णय–सत्ता के प्रश्न से जुड़ा होता है, जहाँ राज्य और बाजार की संस्थाएँ स्थानीय समुदायों के निर्णयों पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित करती हैं।[7] तीसरा प्रतिमान वैकल्पिक विकास मॉडल (Alternative Development Paradigm) है, जो विकास को GDP और औद्योगिक वृद्धि के बजाय सतत, न्यायपूर्ण और समुदाय–संचालित दिशा में परिभाषित करता है।[8]

इस तरह भारत के पर्यावरण आंदोलन दोहरे स्वरूप को धारण करते हैं — एक ओर वे प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के लिए संघर्ष करते हैं, और दूसरी ओर राजनीतिक–आर्थिक सत्ता संरचनाओं के असमान प्रभाव को चुनौती देते हैं। चिपको आंदोलन में वृक्षों की रक्षा के लिए महिलाओं की प्रतिरोधात्मक भूमिका हो, साइलेंट वैली में वैज्ञानिक शोध और जन–एकता का समन्वय हो, या न्यामगिरी व हसदेव अरण्य में "जल–जंगल–जमीन" के सांस्कृतिक–आध्यात्मिक अधिकार की रक्षा — सभी मामले यह दर्शाते हैं कि पर्यावरणीय संघर्ष केवल पारिस्थितिकी संबंध नहीं बल्कि सत्ता, संस्कृति और अधिकार का संघर्ष भी है।[9]

अतएव, भारत के पर्यावरण आंदोलनों को केवल संरक्षणवादी आंदोलनों के रूप में सीमित करना उनकी वास्तविक राजनीतिक–सामाजिक प्रकृति को कमतर आंकना है। ये आंदोलन विकास मॉडल की समीक्षा, लोकतांत्रिक भागीदारी के विस्तार, मानवाधिकार संरक्षण और सतत व न्यायपूर्ण भविष्य की खोज के लिए अनिवार्य वैचारिक आधार प्रदान करते हैं। उनका उद्भव इस समझ से होता है कि प्रकृति को बचाना केवल पारिस्थितिकी की ज़िम्मेदारी नहीं, बल्कि मानवीय मर्यादा, सांस्कृतिक विरासत और सामाजिक न्याय की सुरक्षा का प्रश्न भी है।[10]

शोध की आवश्यकता एवं औचित्य

पर्यावरण आंदोलन भारत में केवल पर्यावरणीय क्षति की तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं उभरते, बल्कि वे राज्य–केंद्रित विकास मॉडल के विकल्प के रूप में भी अपनी पहचान स्थापित करते हैं। आधुनिक विकास योजनाएँ — जैसे बड़े बाँध, खनन उद्योग, औद्योगिक गलियारे और भूमि अधिग्रहण — संसाधनों को आर्थिक पूँजी में बदलने पर केंद्रित रही हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों और स्थानीय समुदायों के बीच परंपरागत संबंध टूटते गए।[11] जल, जंगल और जमीन पर स्थानीय समुदायों का ऐतिहासिक अधिकार केवल आर्थिक निर्भरता का मामला नहीं बल्कि सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक निरंतरता का आधार है। इसीलिए जब संसाधनों का हस्तांतरण राज्य और बाज़ार की शक्तियों के पक्ष में हुआ तो संघर्ष अपरिहार्य बन गया।[12]

खनन–आधारित विकास मॉडल, पनबिजली परियोजनाएँ और औद्योगिक अधिग्रहण ने लाखों आदिवासी तथा ग्रामीण समुदायों को विस्थापन, आजीविका ह्रास और सांस्कृतिक विघटन की ओर धकेला।[13] असल में, विकास की इस दिशा ने उन समुदायों पर पर्यावरणीय लागत थोप दी जो राज्य की निर्णय प्रक्रियाओं में सबसे कम प्रतिनिधित्व रखते थे। यही कारण है कि पर्यावरणीय संघर्ष *"सामाजिक न्याय बनाम विकास"* की बहस में परिवर्तित हो गए। इस संदर्भ में नर्मदा बचाओ आंदोलन, न्यामगिरी पहाड़ आंदोलन और हसदेव अरण्य आंदोलन स्पष्ट उदाहरण हैं — जहाँ पर्यावरण संरक्षण को मानवाधिकार, आत्मनिर्णय और सांस्कृतिक अस्तित्व से जोड़ा गया।[14]

समकालीन परिदृश्य में पर्यावरण आंदोलनों की प्रासंगिकता और अधिक गहन हो गई है क्योंकि जलवायु परिवर्तन, पानी का संकट, नदी तंत्र का क्षय, जैव–विविधता में गिरावट और खनन–उन्मुख विकास तेज़ी से बढ़ रहा है।[15] वैश्विक दक्षिण के संदर्भ में यह उभरती परिस्थिति *"Climate Injustice"* को दर्शाती है— अर्थात् वे समुदाय जो पर्यावरणीय विनाश के लिए न्यूनतम उत्तरदायी हैं वही इसके परिणामों से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं।[16] इस प्रकार पर्यावरण आंदोलन केवल अतीत की ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के पर्यावरणीय शासन के लिए आवश्यक सामाजिक–राजनीतिक बल हैं।

नीति शासन के स्तर पर भी गंभीर प्रश्न बने हुए हैं। पर्यावरणीय प्रभाव आकलन (EIA) की प्रक्रिया अक्सर वैज्ञानिक निष्पक्षता और सामुदायिक भागीदारी से दूर रहती है; पुनर्वास–नीतियाँ भूमि और आजीविका के अधिकार की पूर्ण सुरक्षा नहीं देतीं; और *Free, Prior and Informed Consent (FPIC)* अभी भी प्रायः औपचारिकता तक सीमित है।[17] इस असंतुलन के कारण पर्यावरण शासन "ऊपर से नीचे" (Top–down) मॉडल में फँसा रहता है जबकि वैश्विक शोध यह सिद्ध कर चुका है कि संरक्षण तब अधिक प्रभावी होता है जब स्थानीय समुदाय निर्णय लेने में केंद्र में हों।[18]

अतः, पर्यावरण आंदोलनों का अध्ययन केवल शैक्षणिक उद्देश्य तक सीमित नहीं है; यह नीति और शासन के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ये आंदोलन भारत में सतत विकास, पर्यावरण न्याय, सामुदायिक अधिकार, लोकतांत्रिक भागीदारी और वैकल्पिक विकास प्रतिमान की सैद्धांतिक और व्यावहारिक नींव उपलब्ध कराते हैं।[19] इसलिए इनका वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक विश्लेषण न केवल अकादमिक शोध की आवश्यकता है बल्कि सामाजिक–पर्यावरणीय शासन के भविष्य के लिए अनिवार्य है।

सैद्धांतिक ढाँचा

भारत के पर्यावरण आंदोलनों की व्याख्या को समझने के लिए विद्वानों ने सामान्यतः तीन परस्पर–पूरक सैद्धांतिक प्रतिमानों—पर्यावरण न्याय, राजनीतिक पारिस्थितिकी, और वैकल्पिक विकास—को केंद्रीय विश्लेषणात्मक उपकरण के रूप में विकसित किया है। ये प्रतिमान न केवल आंदोलनों की उत्पत्ति और उनके उद्देश्यों को रेखांकित करते हैं, बल्कि पर्यावरणीय संघर्षों में अंतर्निहित सामाजिक–राजनीतिक असमानताओं और शक्ति–गतिशीलताओं को भी उजागर करते हैं। इस प्रकार, पर्यावरणीय प्रतिरोध को केवल संरक्षणवादी प्रयास के रूप में नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक–राजनैतिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में देखने का आग्रह करते हैं।[20]

पर्यावरण न्याय (Environmental Justice) का प्रतिमान इस धारणा पर आधारित है कि पर्यावरणीय क्षति का बोझ समाज के सभी वर्गों पर समान रूप से नहीं पड़ता; बल्कि यह बोझ सबसे अधिक उन समुदायों पर पड़ता है जो संरचनात्मक रूप से हाशिए पर स्थित हैं—जैसे आदिवासी समूह, ग्रामीण श्रमिक, और निम्न आय–समुदाय। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत *नर्मदा बचाओ आंदोलन* एक महत्वपूर्ण उदाहरण है, जिसने विकास परियोजनाओं के कारण उत्पन्न विस्थापन, क्षतिपूर्ति, और पुनर्वास के प्रश्नों को राष्ट्रीय बहस के केंद्र में रखा।[21] यह प्रतिमान दर्शाता है कि पर्यावरणीय क्षरण स्वयं में एक सामाजिक असमानता का रूप ले लेता है, और न्यायसंगत नीतिगत व्यवस्था के बिना पर्यावरण संरक्षण संभव नहीं।

दूसरा प्रतिमान, राजनीतिक पारिस्थितिकी (Political Ecology), संसाधनों पर नियंत्रण के संघर्ष को विश्लेषण का आधार बनाता है। यह दृष्टिकोण बताता है कि प्राकृतिक संसाधन केवल जैव–भौतिक संस्थाएँ नहीं हैं, बल्कि राज्य, कंपनियों और स्थानीय समुदायों के बीच चल रहे राजनीतिक–आर्थिक विवादों का केंद्र भी हैं। *न्यामगिरी* और *हसदेव अरण्य* के आंदोलन राजनीतिक पारिस्थितिकी के

[7] Robbins, P., Political Ecology, Wiley-Blackwell, 2004.
[8] Escobar, A., Encountering Development, Princeton University Press, 1995.
[9] Shiva, V., Staying Alive: Women, Ecology and Development, Zed Books, 1988.
[10] Rangan, H., Of Myths and Movements, Verso, 2000.
[11] Gadgil, M. & Guha, R., Ecology and Equity, Penguin, 1995.
[12] Sachs, W., The Development Dictionary, Zed Books, 1992.
[13] Roy, A., "The Greater Common Good", Outlook, 1999.
[14] Baviskar, A., In the Belly of the River, Oxford University Press, 1995.
[15] IPCC, Climate Change Synthesis Report, 2023.
[16] Bullard, R., Dumping in Dixie: Race, Class, and Environmental Quality, Westview Press, 1990.
[17] Government of India, EIA Notification, 2006; Forest Rights Act, 2006.
[18] Ostrom, E., Governing the Commons, Cambridge University Press, 1990.
[19] Escobar, A., Encountering Development, Princeton University Press, 1995.
[20] Guha, Ramachandra. Environmentalism: A Global History. Oxford University Press, 2000.
[21] Baviskar, Amita. In the Belly of the River: Tribal Conflicts over Development in the Narmada Valley. Oxford University Press, 2004.

प्रतिनिधि उदाहरण हैं, जहाँ समुदायों ने खनन और वन–उत्पादन गतिविधियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए यह प्रश्न उठाया कि संसाधनों पर शासन करने और उनके लाभों का निर्धारण करने का अधिकार किसके पास होना चाहिए।[22]इस प्रकार, पर्यावरणीय संघर्ष शक्ति संरचनाओं की आलोचना और स्थानीय स्वशासन के प्रश्नों से गहराई से जुड़ा है।

तीसरा प्रतिमान, वैकल्पिक विकास (Alternative Development), आधुनिक विकास मॉडल की सीमाओं की ओर संकेत करता है और समुदाय–आधारित, विकेंद्रीकृत तथा सतत विकास दृष्टिकोण को आगे बढ़ाता है। *चिपको आंदोलन* और *साइलेंट वैली संरक्षण अभियान* इस प्रतिमान की सबसे प्रभावी मिसालें हैं, जिन्होंने यह तर्क दिया कि विकास की प्रक्रिया तभी सार्थक है जब वह पारिस्थितिकी के अनुकूल हो और स्थानीय समुदायों की भागीदारी पर आधारित हो।[23] यह प्रतिमान विकास को मात्र आर्थिक वृद्धि के रूप में देखने की प्रवृत्ति की आलोचना करता है तथा पारिस्थितिक संतुलन और सांस्कृतिक–सामुदायिक मूल्यों को विकास-चर्चा का अभिन्न हिस्सा बनाता है।

इन तीनों प्रतिमानों का समवेत अवलोकन भारत की पर्यावरण राजनीति का अधिक सुसंगत और व्यापक चित्र प्रस्तुत करता है। यह स्पष्ट करता है कि पर्यावरणीय आंदोलनों का उद्भव किसी एक आयाम—जैसे संरक्षण, विकास या विस्थापन—से नहीं होता, बल्कि सामाजिक न्याय, संसाधन नियंत्रण और वैकल्पिक विकास की परस्पर-निरपेक्ष चिंताओं से मिलकर उत्पन्न होता है। अतः इन प्रतिमानों का समन्वित उपयोग न केवल विश्लेषण की गहराई बढ़ाता है, बल्कि यह भी दर्शाता है कि भारत में पर्यावरणीय प्रतिरोध एक बहुस्तरीय राजनीतिक प्रक्रिया है, जो राज्य, बाजार और समुदायों के बीच जटिल अंतःक्रियाओं पर आधारित है।

भारत में पर्यावरण आंदोलनों का ऐतिहासिक विकास

भारत में पर्यावरण आंदोलनों का इतिहास स्वतंत्रता–पूर्व काल से शुरू होता है, जब वनों, जलस्रोतों और कृषि संसाधनों की सुरक्षा हेतु स्थानीय समुदायों और ग्राम पंचायतों द्वारा विभिन्न पहल की गई थीं। इन पहल का उद्देश्य न केवल प्राकृतिक संसाधनों की संरक्षण करना था, बल्कि ग्रामीण समुदायों की आजीविका और सामाजिक संरचना को भी बनाए रखना था। स्वतंत्रता–पूर्व भारत में अनेक स्थानीय संघर्ष उदाहरणस्वरूप मिलते हैं, जैसे राजस्थान और मध्यप्रदेश के कुछ क्षेत्रों में वन अधिकारों की रक्षा के लिए स्थानीय समुदायों द्वारा किए गए विरोध प्रदर्शन।[24]यह दौर संगठित राष्ट्रीय आंदोलन के बजाय स्थानीय स्तर पर आधारित संरक्षण प्रयासों का था।

1970 के दशक में भारतीय पर्यावरण आंदोलन ने नई दिशा और रूप ग्रहण किया। इस समय वनों की तेजी से कटाई, खनन गतिविधियों का विस्तार, बड़े बाँधों का निर्माण और सरकारी विकास परियोजनाओं के कारण ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में आजीविका संकट गहराया। इन परिस्थितियों ने स्थानीय समुदायों में सामाजिक और आर्थिक असमानताओं के खिलाफ चेतना पैदा की और संगठित संघर्ष की नींव रखी। इस काल में बाजार–केंद्रित विकास मॉडल की आलोचना भी उभरी, जिसने पर्यावरणीय क्षति और सामाजिक असमानताओं के बीच गहरा संबंध उजागर किया।[25]

1973 में उत्तराखंड के चिपको आंदोलन ने भारतीय आधुनिक पर्यावरण आंदोलन को अंतरराष्ट्रीय मान्यता दिलाई। इस आंदोलन में ग्रामीण महिलाएँ सीधे वृक्षों से चिपककर वन कटाई को रोकने लगीं, जिससे न केवल पर्यावरण संरक्षण की नीति पर प्रभाव पड़ा, बल्कि यह आंदोलन पर्यावरण–न्याय और समुदाय–संचालित संरक्षण की धाराओं को भी सशक्त बनाने वाला साबित हुआ। चिपको आंदोलन ने यह दिखाया कि Grassroots activism और स्थानीय समुदाय की भागीदारी पर्यावरणीय निर्णयों में निर्णायक भूमिका निभा सकती है।[26]

1980–2000 के दौर में भारतीय पर्यावरण आंदोलन ने राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय विमर्श में अपनी पहचान स्थापित की। नर्मदा बाँध परियोजना के विरोध, जंगलों और जल संसाधनों पर संघर्ष और स्थानीय समुदायों के अधिकारों की बहस ने नीति निर्माताओं और शोधकर्ताओं के लिए नई बहस और विश्लेषण के अवसर प्रस्तुत किए। इस अवधि में पर्यावरण आंदोलनों ने सिर्फ संरक्षण पर ध्यान नहीं दिया, बल्कि सामाजिक न्याय, मानवाधिकार और सतत विकास जैसे व्यापक मुद्दों को भी अपने एजेंडे में शामिल किया। इस तरह, भारत में पर्यावरण आंदोलन ने न केवल प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में योगदान दिया, बल्कि समाज में लोकतांत्रिक चेतना और न्यायसंगत विकास की दिशा में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[27]

प्रमुख पर्यावरण आंदोलनों का विश्लेषण

भारत के पर्यावरण आंदोलनों का विकास केवल संरक्षणवादी प्रतिक्रिया नहीं रहा, बल्कि यह स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी, राज्य–नीति की आलोचना और वैकल्पिक विकास प्रतिमानों के निर्माण से गहरे रूप में जुड़ा रहा है। 1970 के दशक से लेकर वर्तमान तक, विभिन्न आंदोलनों ने पर्यावरण–राजनीति की दिशा को प्रभावित किया है। नीचे पाँच प्रमुख आंदोलनों का विश्लेषण प्रस्तुत है, जिनके माध्यम से भारतीय पर्यावरणवाद के विविध स्वरूपों, रणनीतियों और उपलब्धियों को समझा जा सकता है।[28]

(क) चिपको आंदोलन (1973)

1973 में उत्तराखंड के रैणी गाँव में प्रारम्भ हुआ चिपको आंदोलन भारत के सबसे प्रभावशाली जन–आंदोलनों में से एक माना जाता है। इस आंदोलन का नेतृत्व मुख्यतः *गौरा देवी* तथा ग्रामीण महिलाओं ने किया, जिन्होंने वृक्षों को कटाई से बचाने के लिए उनके साथ "चिपक" कर अहिंसक प्रतिरोध की परंपरा स्थापित की। चिपको का मूल मुद्दा वनों की अंधाधुंध व्यावसायिक कटाई था, जिसने स्थानीय समुदायों की आजीविका, जल–स्रोतों और पर्वतीय पारिस्थितिकी पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। आंदोलन के प्रतिफलस्वरूप सरकार ने उच्च हिमालयी क्षेत्रों में व्यावसायिक कटाई पर रोक लगाई और समुदाय–आधारित संरक्षण की अवधारणा को नीतिगत मान्यता प्राप्त हुई।[29]यह आंदोलन पर्यावरण–नारीवाद तथा स्थानीय पारिस्थितिक ज्ञान की भूमिका को रेखांकित करता है।

(ख) साइलेंट वैली आंदोलन (1970–83)

केरल के घने वर्षावनों में प्रस्तावित जलविद्युत परियोजना के विरुद्ध चला *साइलेंट वैली संरक्षण अभियान* भारत में वैज्ञानिक–आधारित पर्यावरणीय सक्रियता का अग्रणी उदाहरण माना जाता है। 1970 के दशक में जब परियोजना ने जैव विविधता, स्थानिक प्रजातियों और संवेदनशील वर्षावन पारिस्थितिकी पर गंभीर खतरे पैदा किए, तब पर्यावरणविदों, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों और नागरिक समूहों ने व्यापक जन–चर्चा को जन्म दिया।[30] इस आंदोलन का निर्णायक परिणाम यह रहा कि 1984 में साइलेंट वैली को राष्ट्रीय उद्यान घोषित किया गया। यह निर्णय भारतीय पर्यावरण इतिहास में उस मोड़ का परिचायक है जहाँ वैज्ञानिक प्रमाणों और नागरिक सहभागिता ने विकास परियोजना के स्वरूप को चुनौती दी।

[22] Padel, Felix & Das, Samarendra. Out of This Earth: East India Adivasis and the Aluminium Cartel. Orient Blackswan, 2010.
[23] Shiva, Vandana. Staying Alive: Women, Ecology and Development. Zed Books, 1988.
[24] Gadgil, M., & Guha, R. (1992). This Fissured Land: An Ecological History of India. University of California Press.
[25] Baviskar, A. (1995). In the Belly of the River: Tribal Conflicts over Development in the Narmada Valley. Oxford University Press.
[26] Shiva, V. (1988). Staying Alive: Women, Ecology and Development. Zed Books.
[27] Guha, R., & Martinez-Alier, J. (1997). Varieties of Environmentalism: Essays North and South. Earthscan Publications.
[28] Guha, Ramachandra. India After Gandhi. HarperCollins, 2007.
[29] Shiva, Vandana. Staying Alive: Women, Ecology and Development. Zed Books, 1988.
[30] Gadgil, Madhav, & Guha, Ramachandra. This Fissured Land. Oxford University Press, 1992.

(ग) नर्मदा बचाओ आंदोलन (1985)

1985 में आरम्भ हुआ *नर्मदा बचाओ आंदोलन* (NBA) बड़े बाँधों के कारण होने वाले विस्थापन, पुनर्वास, पारिस्थितिक क्षति और मानवाधिकार उल्लंघनों को केंद्र में लाता है। मेधा पाटकर और अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में NBA ने नर्मदा घाटी में विकास मॉडल के नैतिक, सामाजिक और पर्यावरणीय आयामों पर प्रश्न उठाए।[31] इस आंदोलन ने न केवल बाँध परियोजनाओं की समीक्षा को मजबूती दी, बल्कि विकास–विस्थापन–मानवाधिकार की बहस को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर संस्थागत रूप प्रदान किया। इसके माध्यम से यह स्पष्ट हुआ कि बड़े बुनियादी ढाँचे वाली परियोजनाएँ केवल तकनीकी मुद्दे नहीं, बल्कि गहरे सामाजिक–राजनीतिक प्रश्नों से संबंधित हैं।

(घ) न्यामगिरी पहाड़ आंदोलन (2003–2014)

ओडिशा के डोंगरिया कोंध जनजाति द्वारा संचालित *न्यामगिरी आंदोलन* राजनीतिक पारिस्थितिकी के सबसे सशक्त उदाहरणों में से एक है। यह आंदोलन वेदांत कंपनी द्वारा प्रस्तावित बॉक्साइट खनन के विरोध में उभरा, जिसने पर्वतीय पारिस्थितिकी, पवित्र सांस्कृतिक परंपराओं और आदिवासी आजीविका को गंभीर खतरा पहुँचाया।[32] 2013 में सर्वोच्च न्यायालय ने एक ऐतिहासिक निर्णय दिया, जिसमें ग्राम सभाओं की सहमति को सर्वोपरि माना गया—यह भारतीय पर्यावरण–लोकतंत्र की दिशा में एक निर्णायक कदम था। इस निर्णय ने स्थानीय समुदायों को संसाधनों पर अपने अधिकार और निर्णय–निर्माण की भूमिका के लिए वैधानिक आधार प्रदान किया।

(ड़) हसदेव अरण्य आंदोलन (2011–वर्तमान)

छत्तीसगढ़ के घने वनों में स्थित हसदेव अरण्य क्षेत्र में कोयला खनन के विरुद्ध चल रहा यह आंदोलन भारत में समकालीन पर्यावरणीय सक्रियता का प्रतिनिधि उदाहरण है। यहाँ के आदिवासी समुदायों और नागरिक संगठनों ने बार-बार यह समस्या उठाई कि खनन से न केवल वन–पारिस्थितिकी का विनाश होगा, बल्कि वन अधिकार अधिनियम, 2006 के अंतर्गत मान्यता प्राप्त सामुदायिक अधिकार भी कमजोर पड़ेंगे।[33] आंदोलन के दबाव और न्यायिक/प्रशासनिक हस्तक्षेपों के परिणामस्वरूप कई खनन परियोजनाओं को रोका गया तथा प्रभाव मूल्यांकन और ग्राम सभा की प्रक्रिया को अधिक मजबूती मिली। यह आंदोलन वर्तमान समय में राज्य–कॉर्पोरेट गठजोड़ और वनाधिकार की रक्षा से जुड़े जटिल राजनीतिक प्रश्नों को सामने लाता है।

पर्यावरण आंदोलनों के प्रभाव

भारत में पर्यावरण आंदोलनों का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह रहा कि उन्होंने संसाधन संरक्षण और सतत विकास के विमर्श को सामाजिक व राजनीतिक केंद्रीयता प्रदान की। प्रारंभिक दशकों में विकास नीति का फोकस आर्थिक उत्पादन और औद्योगिक प्रगति पर था, लेकिन चिपको आंदोलन, साइलेंट वैली आंदोलन और नर्मदा बचाओ आंदोलन ने यह प्रतिपादित किया कि पर्यावरणीय स्थिरता के बिना आर्थिक विकास न तो दीर्घकालिक हो सकता है और न ही न्यायसंगत।[34] इन आंदोलनों ने सिद्ध किया कि प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण केवल पारिस्थितिक आवश्यकता नहीं, बल्कि मानव अस्तित्व और सामाजिक समृद्धि की अनिवार्य शर्त है।

दूसरा व्यापक प्रभाव नीतिगत एवं विधिक सुधारों के रूप में उभरता है। पर्यावरण आंदोलनों के दबाव के परिणामस्वरूप भारत में अनेक संस्थागत और विधायी परिवर्तन हुए—जैसे पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986, वन अधिकार अधिनियम 2006, राष्ट्रीय हरित प्राधिकरण अधिनियम 2010 तथा पारिस्थितिकी प्रभाव आकलन (EIA) की अनिवार्यता।[35] इन कानूनों ने विकास परियोजनाओं में पारिस्थितिक मूल्यांकन, स्थानीय सहभागिता और अधिकार–आधारित पुनर्वास को औपचारिक स्वरूप प्रदान किया। विशेष रूप से नर्मदा आंदोलन और न्यामगिरी आंदोलन ने प्रशासनिक व न्यायिक व्यवस्था को यह स्वीकार करने के लिए बाध्य किया कि बड़े पैमाने के विकास हस्तक्षेप केवल तकनीकी नहीं बल्कि सामाजिक–राजनीतिक निर्णय हैं।[36]

तीसरा प्रभाव पर्यावरणीय न्याय (Environmental Justice) के रूप में देखा जाता है। पर्यावरण आंदोलनों ने यह स्थापित किया कि पर्यावरणीय क्षति का बोझ समान रूप से वितरित नहीं होता—सबसे अधिक प्रभावित वे समुदाय होते हैं जिनके पास राजनीतिक प्रतिनिधित्व और संसाधनों पर नियंत्रण कम होता है।[37] इस दृष्टि से हसदेव अरण्य, न्यामगिरी और चिपको आंदोलन "पर्यावरण" को मानवाधिकार, सांस्कृतिक पहचान और आजीविका सुरक्षा से जोड़ते हुए एक न्याय–केंद्रित विमर्श प्रस्तुत करते हैं। यह नीति-निर्माण की उस सोच को चुनौती देता है जिसमें पर्यावरणीय हानि को विकास की कीमत के रूप में स्वीकार किया जाता था।

चौथा महत्वपूर्ण प्रभाव सामुदायिक भागीदारी आधारित संसाधन प्रबंधन के सुदृढ़ीकरण के रूप में सामने आता है। पर्यावरण आंदोलनों ने यह मान्यता स्थापित की कि जंगल, पहाड़, नदियाँ और खनिज—उन समुदायों द्वारा सर्वश्रेष्ठ रूप से संरक्षित होते हैं जिनका इन संसाधनों से प्रत्यक्ष संबंध होता है।[38] यही कारण है कि ग्राम सभा निर्णय मॉडल (विशेषकर न्यामगिरी आंदोलन में) स्थानीय समुदायों को पर्यावरणीय निर्णयों के केंद्र में रखता है। यह परिवर्तन *Top–down* मॉडल से *Participatory Governance* की दिशा में महत्वपूर्ण बदलाव का प्रतीक है।

अंत में, पर्यावरण आंदोलनों ने यह बुनियादी सिद्धांत स्थापित किया कि पर्यावरण संरक्षण तभी पूर्ण और नैतिक है जब वह सामाजिक न्याय, समुदाय अधिकार और मानव–अधिकारों को समाहित करता है।[39] संरक्षणवादी दृष्टिकोण जो केवल वृक्षों, वन्यजीवों और जैव–विविधता तक सीमित था अब व्यापक रूप से "इंसान और प्रकृति के सहअस्तित्व" की दिशा में विकसित हुआ है। इसी कारण पर्यावरण आंदोलन केवल संघर्ष नहीं बल्कि वैकल्पिक भविष्य की कल्पना—लोकतांत्रिक, सतत और न्यायसंगत विकास की ओर संकेत हैं।

निष्कर्ष

भारत के पर्यावरण आंदोलनों का सबसे व्यापक योगदान यह रहा कि उन्होंने पर्यावरणीय संघर्ष को सामाजिक न्याय के संघर्ष से जोड़ा। इन आंदोलनों ने यह स्पष्ट किया कि पर्यावरण संरक्षण केवल पारिस्थितिकी या वन–प्रबंधन का तकनीकी प्रश्न नहीं है, बल्कि सत्ता, असमानता और मानवाधिकार के ढांचे में भी समाहित है।[40] चिपको, नर्मदा बचाओ, न्यामगिरी और हसदेव अरण्य आंदोलनों ने विकास की उस धारा को चुनौती दी जिसमें आर्थिक वृद्धि को सामाजिक लागतों से ऊपर रखा जाता था। इनके माध्यम से "विकास किसके लिए और किस कीमत पर?" जैसे प्रश्न राष्ट्रीय विमर्श का हिस्सा बने, जो भारतीय लोकतंत्र में पर्यावरणीय जवाबदेही को मजबूत करने की दिशा में निर्णायक पड़ाव रहा।[41]

इन आंदोलनों का दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव यह है कि उन्होंने विकास मॉडल को पुनर्परिभाषित किया। परंपरागत औद्योगिक–पूंजीवादी विकास प्रतिमान के स्थान पर इन आंदोलनों ने *सतत, न्यायसंगत और समुदाय–आधारित विकास* के विकल्प को सामने रखा।[42] राजनीतिक पारिस्थितिकी (Political Ecology) के

[31] Baviskar, Amita. In the Belly of the River. Oxford University Press, 2004.
[32] Padel, Felix, & Das, Samarendra. Out of This Earth. Orient Blackswan, 2010.
[33] Kothari, Ashish, *et al*. Forest Rights and Conservation in India. Kalpavriksh, 2013.
[34] Shiva, V., Staying Alive: Women, Ecology and Development, Zed Books, 1988.
[35] Gadgil, M. & Guha, R., Ecology and Equity, Penguin Books, 1995.
[36] Baviskar, A., In the Belly of the River, Oxford University Press, 1995.
[37] Bullard, R., Dumping in Dixie: Race, Class, and Environmental Quality, Westview Press, 1990.
[38] Ostrom, E., Governing the Commons, Cambridge University Press, 1990.
[39] Escobar, A., Encountering Development, Princeton University Press, 1995.
[40] Guha, R., The Unquiet Woods, Oxford University Press, 1989.
[41] Roy, A., The Greater Common Good, Outlook, 1999.
[42] Escobar, A., Encountering Development, Princeton University Press, 1995.

दृष्टिकोण से देखें तो भारत के पर्यावरण आंदोलन यह दर्शाते हैं कि संसाधनों पर नियंत्रण और निर्णय–सत्ता केवल तकनीकी क्षमता नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक अधिकार का विषय है।[43] इस प्रकार पर्यावरण आंदोलनों ने संसाधनों पर समुदाय आधारित स्वायत्तता, स्थानीय सहभागिता और पारिस्थितिक संवेदनशीलता को विकास नीति की केन्द्रीय आवश्यकता के रूप में स्थापित किया।

तीसरा, भारत के पर्यावरण आंदोलनों ने पर्यावरणीय लोकतंत्र (Environmental Democracy) को संस्थागत आधार प्रदान किया। न्यामगिरी आंदोलन में ग्राम सभा की सहमति को सर्वोपरि मानने का सुप्रीम कोर्ट का निर्णय इसका ऐतिहासिक उदाहरण है, जिसने *Bottom–up Governance* को कानूनी वैधता प्रदान की।[44] यह परिवर्तन इस समझ पर आधारित है कि संरक्षण तभी स्थायी है जब निर्णय–प्रक्रिया पारदर्शी हो और स्थानीय समुदाय सहभागी हों। इस दृष्टि से भारतीय अनुभव वैश्विक दक्षिण के उन देशों के लिए मॉडल सिद्ध हो रहा है जहाँ विकास और पर्यावरण के टकराव तीव्र होते जा रहे हैं।

हालाँकि उपलब्धियों के बावजूद चुनौतियाँ अभी भी गंभीर हैं—खनन विस्तार, भूमि अधिग्रहण, जलवायु परिवर्तन, बड़े जल–ढाँचों का प्रसार, कृषि–वैश्वीकरण और जैव–विविधता विनाश भारतीय पारिस्थितिकी और सामाजिक संरचना पर गहरा दबाव बना रहे हैं।[45] वर्तमान नीतियों में समुदाय अधिकार, पर्यावरणीय प्रभाव आकलन (EIA), पुनर्वास तथा *Free, Prior and Informed Consent (FPIC)* के अनुपालन में अनेक कमियाँ हैं। rapidly बदलते आर्थिक परिदृश्य में पर्यावरण आंदोलन को नए प्रश्नों—शहरी प्रदूषण, प्लास्टिक प्रबंधन, जल संकट, ऊर्जा संक्रमण और कार्बन अर्थव्यवस्था—से भी जूझना है। इससे स्पष्ट है कि संघर्ष समाप्त नहीं हुआ, बल्कि रूपांतरित हो रहा है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत के पर्यावरण आंदोलनों ने राष्ट्र को एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक और व्यावहारिक संदेश दिया है—पर्यावरण संरक्षण तभी सार्थक है जब वह सामाजिक न्याय, मानव–अधिकार और लोकतांत्रिक सहभागिता को समाहित करता है।[46] नीति स्तर पर आगे बढ़ने का मार्ग सामुदायिक भागीदारी की मजबूती, वैज्ञानिक–सामाजिक समन्वय, पारदर्शी पर्यावरणीय मूल्यांकन और आदिवासी व हाशिए के समुदायों के अधिकारों की संवैधानिक सुरक्षा से होकर गुजरता है। इस दिशा में प्रगति न केवल पर्यावरण को सुरक्षित करेगी बल्कि भारत के लोकतांत्रिक चरित्र और विकास मॉडल को भी अधिक समतामूलक, नैतिक और सतत बनाएगी।

नीति–आधारित सुझाव

भारत में पर्यावरणीय शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए ऐसे नीतिगत हस्तक्षेप आवश्यक हैं जो न केवल संसाधन–प्रबंधन की तकनीकी दक्षता बढ़ाएँ, बल्कि स्थानीय समुदायों के अधिकारों और सहभागिता को भी केंद्र में रखें। निम्नलिखित नीति–उन्मुख सुझाव वर्तमान चुनौतियों की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

1. Free, Prior and Informed Consent (FPIC) को कानूनी रूप से अनिवार्य बनाना

विकास परियोजनाओं, विशेषकर खनन, अधोसंरचना तथा बड़े बाँधों से जुड़ी परियोजनाओं में *Free, Prior and Informed Consent* (FPIC) का सिद्धांत मूलभूत लोकतांत्रिक अपेक्षा के रूप में उभर चुका है। अंतरराष्ट्रीय कानून—विशेषकर ILO Convention 169 और UNDRIP—आदिवासी समुदायों के लिए FPIC की अनिवार्यता को मान्यता देता है। भारत में ग्राम सभा की सहमति की आवश्यकता यद्यपि वन अधिकार अधिनियम 2006 तथा पंचायती राज (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम (PESA) के तहत आंशिक रूप से मौजूद है, परंतु इसे स्पष्ट और बाध्यकारी कानूनी प्रावधान का स्वरूप अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। FPIC का पूर्ण अनुपालन सुनिश्चित करने से विकास परियोजनाओं की पारदर्शिता बढ़ेगी, संघर्ष कम होंगे और पर्यावरणीय लोकतंत्र को संस्थागत आधार मिलेगा।[47]

2. पर्यावरणीय प्रभाव आकलन (EIA) में स्वतंत्र विशेषज्ञों और समुदाय की भागीदारी

वर्तमान EIA ढाँचा अक्सर परियोजना–प्रवर्तकों पर अत्यधिक निर्भर दिखाई देता है, जिससे वैज्ञानिक निष्पक्षता और पारदर्शिता प्रभावित होती है। स्वतंत्र पर्यावरण विशेषज्ञों, सामाजिक वैज्ञानिकों, पारिस्थितिकीविदों और स्थानीय समुदायों को औपचारिक रूप से EIA प्रक्रिया में शामिल करने से मूल्यांकन अधिक व्यापक और विश्वसनीय बन सकता है। इसके अतिरिक्त, सार्वजनिक सुनवाई को केवल प्रक्रियात्मक औपचारिकता न बनाकर वास्तविक सहभागिता का माध्यम बनाया जाना चाहिए। समुदाय–आधारित ज्ञान, पारंपरिक पारिस्थितिक समझ और स्थानीय अनुभव उन मुद्दों को उजागर करते हैं जिन्हें मात्र तकनीकी मूल्यांकन नहीं पकड़ सकता।[48]

3. वन अधिकार अधिनियम 2006 का प्रभावी क्रियान्वयन

वन अधिकार अधिनियम (FRA) 2006 का उद्देश्य ऐतिहासिक संरचनात्मक अन्यायों को सुधारना और आदिवासी तथा वन-आश्रित समुदायों को उनके पारंपरिक अधिकार वापस दिलाना है। हालांकि अनेक क्षेत्रों में FRA के सफल उदाहरण देखने को मिलते हैं, पर व्यापक स्तर पर इसके क्रियान्वयन में प्रशासनिक विलंब, दस्तावेज़ीकरण की जटिलता और राजनीतिक–आर्थिक हितों के टकराव जैसी समस्याएँ बनी हुई हैं।[49] FRA के प्रभावी क्रियान्वयन से न केवल सामुदायिक संरक्षण मॉडल सुदृढ़ होंगे, बल्कि वनों के सतत प्रबंधन में स्थानीय समुदायों की निर्णायक भूमिका सुनिश्चित होगी।

4. पर्यावरणीय अधोसंरचना को मज़बूत करने हेतु शिक्षा, जन-जागरूकता और समुदाय–केंद्रित मॉडल

पर्यावरणीय शासन केवल विनियामक ढाँचे पर निर्भर नहीं होता; यह सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना और संस्थागत क्षमता के स्तर से भी गहराई से जुड़ा है। स्कूलों, विश्वविद्यालयों और स्थानीय निकायों में पर्यावरण शिक्षा को मजबूत करना, समुदाय–आधारित संरक्षण समूहों को समर्थन देना, और स्थानीय नेतृत्व को प्रशिक्षण प्रदान करना दीर्घकालिक पर्यावरणीय स्थिरता के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। जन-जागरूकता अभियानों और सामुदायिक निगरानी प्रणालियों से पर्यावरणीय निर्णय–निर्माण अधिक लोकतांत्रिक और जवाबदेह बनता है।[50] यह दृष्टिकोण राज्य, समुदाय और नागरिक समाज के बीच सहयोगात्मक संबंध को पुनर्स्थापित करता है।

References

1. Agarwal A, Narain S. Global warming in an unequal world: A case of environmental colonialism. Centre for Science and Environment; 1991.
2. Barelli M. Free, prior and informed consent in international law. Int Comp Law Q. 2009;58(2):451–473.
3. Baviskar A. In the belly of the river: Tribal conflicts over development in the Narmada Valley. Oxford University Press; 1995.

[43] Robbins, P., Political Ecology, Wiley-Blackwell, 2004.
[44] Baviskar, A., In the Belly of the River, Oxford University Press, 1995.
[45] IPCC, Climate Change Synthesis Report, 2023.
[46] Gadgil, M. & Guha, R., Ecology and Equity, Penguin Books, 1995.
[47] Barelli, M. "Free, Prior and Informed Consent in International Law." International and Comparative Law Quarterly 58, no. 2 (2009).
[48] Menon, A., & Kohli, K. Environmental Impact Assessment in India: A Critical Review. Kalpavriksh, 2010.
[49] Kothari, A., *et al*. Forest Rights and Conservation in India. Kalpavriksh, 2013.
[50] Gadgil, Madhav, & Guha, Ramachandra. Ecology and Equity. Penguin, 1995.

4. Baviskar A. In the belly of the river: Tribal conflicts over development in the Narmada Valley. Revised ed. Oxford University Press; 2004.
5. Bose PS. The politics of dispossession: Community resistance and state repression in India. Sage; 2013.
6. Bullard RD. Dumping in Dixie: Race, class, and environmental quality. Westview Press; 1990.
7. Capra F. The web of life: A new scientific understanding of living systems. Anchor Books; 1996.
8. Escobar A. Encountering development: The making and unmaking of the Third World. Princeton University Press; 1995.
9. Gadgil M, Guha R. This fissured land: An ecological history of India. Oxford University Press; 1992.
10. Gadgil M, Guha R. Ecology and equity: The use and abuse of nature in contemporary India. Penguin Books; 1995.
11. Guha R. The unquiet woods: Ecological change and peasant resistance in the Himalaya. Oxford University Press; 1989.
12. Guha R. Environmentalism: A global history. Oxford University Press; 2000.
13. Guha R. India after Gandhi: The history of the world's largest democracy. HarperCollins; 2007.
14. Guha R, Martinez-Alier J. Varieties of environmentalism: Essays North and South. Earthscan; 1997.
15. Intergovernmental Panel on Climate Change. Climate change synthesis report. IPCC Secretariat; 2023.
16. Kothari A, Kapoor I, Krishnan S. Forest rights and conservation in India. Kalpavriksh; 2013.
17. Martinez-Alier J. The environmentalism of the poor: A study of ecological conflicts and valuation. Oxford University Press; 2003.
18. Mehta L, editor. Displaced by development: Confronting marginalisation and gender injustice. Sage Publications; 2009.
19. Menon A, Kohli K. Environmental impact assessment in India: A critical review. Kalpavriksh; 2010.
20. Misra RP, editor. Environmental concerns, people's responses & planning. Concept Publishing; 1992.
21. Ostrom E. Governing the commons: The evolution of institutions for collective action. Cambridge University Press; 1990.
22. Padel F, Das S. Out of this earth: East India Adivasis and the aluminium cartel. Orient Blackswan; 2010.
23. Rangan H. Of myths and movements: Rewriting Chipko into Himalayan history. Verso; 2000.
24. Robbins P. Political ecology: A critical introduction. Wiley-Blackwell; 2004.
25. Roy A. The greater common good. Outlook Magazine. 1999;39:39–58.
26. Sachs W, editor. The development dictionary: A guide to knowledge as power. Zed Books; 1992.
27. Shiva V. Staying alive: Women, ecology and development. Zed Books; 1988.
28. Sundar N. The burning forest: India's war in Bastar. Juggernaut Books; 2016.
29. Taneja B, Rehmat F, editors. Water conflicts in India: A million revolts in the making. Routledge; 2008.